गीता प्रेस, हिन्दू कोड बिल और 'संस्कृति की रक्षा' का विचार, 1923-1956

Gita Press, the Hindu Code Bill and the Idea of 'Protecting Culture', 1923-1956

जयंत कुमार कन्नौजिया
शोधार्थी (इतिहास विभाग)
कुमारी मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर,(उ०प्र०)
डॉ. आशा रानी
प्रोफेसर(इतिहास विभाग)
कुमारी मायावती राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर,(उ०प्र०) ***[jayantkd2621@gmail.com]***

ABSTRACT / सारांश

गीता प्रेस, गोरखपुर पर उपलब्ध शोध प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इस संस्था ने बीसवीं सदी में एक मानक, उच्च-वर्ण, हिन्दी-भाषी हिन्दू सामान्य-बोध का निर्माण किया। यह निष्कर्ष सही है, पर अधूरा है, क्योंकि यह उस शब्दावली को स्वयं-स्पष्ट मान लेता है जिसमें संस्था ने अपना काम व्यक्त किया। यह शोध-आलेख उसी शब्दावली को अपना विषय बनाता है और पूछता है कि 'संस्कृति' तथा 'संरक्षण' गीता प्रेस के आत्म-वर्णन में कब और किन परिस्थितियों में केन्द्रीय बने। उपलब्ध तिथिवार साक्ष्य एक विशिष्ट कालखण्ड की ओर संकेत करते हैं। 1929 के शारदा अधिनियम के समय *कल्याण* ने सतर्क दूरी बनाए रखी, जबकि 1948 से 1951 के बीच वही पत्रिका हिन्दू कोड बिल के विरुद्ध एक सुसंगठित अभियान चलाती है और उसी दौर में 'संस्कृति के विनाश' की भाषा उसके शीर्षकों में आती है। 1948 का नारी अंक और लगभग 1950 का हिन्दू संस्कृति अंक, दोनों इसी विधिक संघर्ष के दस्तावेज़ हैं। आलेख का तर्क है कि 'संस्कृति-संरक्षण' का सूत्रीकरण उस क्षण की उपज है जब हिन्दू पारिवारिक विधि राज्य द्वारा पुनर्लेखन के लिए खोली गई। इसका पद्धतिगत परिणाम यह है कि शोधकर्ता का प्रश्न यह नहीं रह जाता कि गीता प्रेस ने किस संस्कृति का संरक्षण किया, बल्कि यह कि उसने 'संस्कृति' नामक श्रेणी का निर्माण किन उद्देश्यों से और किस विरोधी के सामने किया। आलेख अपने दावों की साक्ष्य-सीमा स्पष्ट रूप से अंकित करता है और आगे के परीक्षण का ढाँचा प्रस्तुत करता है।

Scholarship on Gita Press, Gorakhpur generally concludes that the press manufactured a normative, upper-caste, Hindi-speaking Hindu common sense during the twentieth century. That conclusion is correct but incomplete, because it treats the vocabulary in which the institution described its own work as self-evident. This article makes that vocabulary its subject and asks when, and under what pressures, 'culture' and 'preservation' became central to how Gita Press explained itself. The dated evidence points to a specific window. Kalyan kept a cautious distance from the Sarda Act of 1929, yet between 1948 and 1951 the same magazine ran an organised campaign against the Hindu Code Bill, and it is in this period that the language of cultural destruction enters its headlines. The Nari Ank of 1948 and the Hindu Sanskriti Ank of around 1950 are both documents of that legal conflict. The article argues that the formulation of cultural preservation was produced by the moment when Hindu family law was opened to statutory rewriting, and that it should therefore be read as a political speech act rather than as a continuous cultural programme. The evidentiary limits of each claim are marked explicitly, and a falsification test is specified.

KEY WORDS / बीज-शब्द

गीता प्रेस, कल्याण, हिन्दू कोड बिल, मुद्रण संस्कृति, हनुमान प्रसाद पोद्दार, हिन्दी सार्वजनिक क्षेत्र, संस्कृति की राजनीति, स्त्री-प्रश्न

Gita Press; Kalyan; Hindu Code Bill; print culture; Hanuman Prasad Poddar; Hindi public sphere; politics of culture; the woman question

1. परिचय: जून 1948 का एक पृष्ठ

जून 1948 के *कल्याण* में एक टिप्पणी छपी जिसका शीर्षक था, हिन्दू संस्कृति के विनाश की योजना।[1] लेखक का नाम नहीं दिया गया था। विषय हिन्दू कोड बिल था, जो उस समय संविधान सभा के सामने था और जिसका मसौदा बी. आर. आम्बेडकर की अध्यक्षता वाली समिति ने तैयार किया था।

इस शीर्षक में जो शब्द सबसे अधिक ध्यान खींचता है वह 'विनाश' नहीं है। धार्मिक पत्रिकाएँ विनाश की भाषा में सहज रहती हैं। ध्यान खींचने वाला शब्द 'संस्कृति' है, और उससे भी अधिक 'योजना'। योजना का अर्थ है कर्ता, इरादा, प्रक्रिया। यह शीर्षक किसी नैतिक पतन की शिकायत नहीं कर रहा, यह एक विधायी कार्रवाई की ओर उँगली उठा रहा है और उसे एक सांस्कृतिक इकाई पर आक्रमण के रूप में परिभाषित कर रहा है। दूसरे शब्दों में, यह शीर्षक 'संस्कृति' को एक ऐसी वस्तु के रूप में गढ़ रहा है जिस पर हमला हो सकता है, और इसलिए जिसकी रक्षा की जा सकती है।

अगले तीन वर्षों में यही भाषा *कल्याण* में बार-बार लौटती है। जुलाई 1948 में पत्रिका स्वामी करपात्री के *सन्मार्ग* से एक सार्वजनिक सूचना पुनर्प्रकाशित करती है जिसमें पाठकों से 4 अगस्त की समय-सीमा से पहले विरोध-पत्र भेजने को कहा गया है।[2] अगस्त 1948 में भगवान दास हलना की एक अपील छपती है, और उसी अंक में पोद्दार का सम्पादकीय पाठकों को चेतावनी देता है कि बहस का स्थगन विधेयक के परित्याग का प्रमाण नहीं है।[3] मार्च 1949 में चार पृष्ठ की एक आलोचना छपती है, हिन्दू कोड बिल: संस्कृति और धर्म के लिए संकट।[4] जुलाई 1949 में अलगू राय शास्त्री की अपील आती है, जिसमें सरकार की तुलना उस अनाहूत अतिथि से की गई है जो घर में घुसकर सम्पत्ति बेचने लगे।[5] अगस्त 1949 में एक स्वामी का स्वप्न-वृत्तान्त छपता है जिसमें आम्बेडकर एक अदालती दृश्य में वकील के रूप में प्रकट होते हैं।[6] मई 1950 में धर्मनिरपेक्षता पर एक तीखा हमला होता है, जिसका तात्कालिक कारण आम्बेडकर की हिन्दू देवताओं सम्बन्धी कथित टिप्पणियों की रिपोर्ट थी।[7] सितम्बर 1951 में पोद्दार पाठकों को याद दिलाते हैं कि राष्ट्रीय संकट हिन्दू कोड बिल से पहले आते हैं।[8]

यह एक अभियान है, और यह तिथियों में बँधा हुआ अभियान है। इसकी शुरुआत, इसका शिखर और इसका स्वर-परिवर्तन, तीनों को कैलेण्डर पर रखा जा सकता है। और यही इस आलेख का प्रस्थान-बिन्दु है।

2. शोध-प्रश्न, केन्द्रीय तर्क और उसका महत्त्व

गीता प्रेस पर लिखने वाला लगभग हर व्यक्ति संस्था के इस दावे से शुरू करता है कि उसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति का संरक्षण है। आलोचक इस दावे को स्वीकार करके उसकी अन्तर्वस्तु पर प्रश्न उठाते हैं: किस संस्कृति का, किसके लिए, किन तत्त्वों का। ये प्रश्न उचित हैं और उनके उत्तर ज्ञात हैं। उत्तर यह है कि गीता प्रेस की 'भारतीय संस्कृति' मुख्यतः उच्च-वर्ण, हिन्दी-भाषी, वैष्णव-सनातनी परम्परा थी, जिसमें बौद्ध, जैन, सिख, आदिवासी और दलित धार्मिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं था।

इस आलेख का प्रश्न भिन्न है। यह पूछता है कि यह दावा स्वयं कब बना।

यह प्रश्न मामूली नहीं है। यदि 'संस्कृति-संरक्षण' 1923 से संस्था का घोषित उद्देश्य था, तो हम एक ऐसी संस्था का इतिहास लिख रहे हैं जिसने चार दशक तक एक सुसंगत सांस्कृतिक कार्यक्रम चलाया और जिसकी राजनीति उस कार्यक्रम से निकली। यदि यह दावा 1948 के आसपास एक विशिष्ट विधिक टकराव में गढ़ा गया, तो हम एक भिन्न इतिहास लिख रहे हैं, जिसमें राजनीति पहले आती है और सांस्कृतिक स्व-परिभाषा बाद में, उसे उचित ठहराने के लिए। पहले पाठ में गीता प्रेस एक सांस्कृतिक संस्था है जो राजनीति में उतरी। दूसरे पाठ में वह एक धार्मिक प्रकाशन-उद्यम है जिसने एक विधायी संकट के दबाव में अपने लिए एक सांस्कृतिक पहचान गढ़ी।

मेरा तर्क दूसरे पाठ के पक्ष में है, पर एक महत्त्वपूर्ण योग्यता के साथ, जिसे मैं आरम्भ में ही रख देना चाहता हूँ। यह दावा शब्द-आवृत्ति का दावा है, और शब्द-आवृत्ति के दावे को सिद्ध करने के लिए सम्पूर्ण संचयन का व्यवस्थित पाठ चाहिए। वह पाठ मैंने नहीं किया। मैंने जो किया है वह तिथिवार साक्ष्य का एक ढाँचा खड़ा करना है जो इस दिशा की ओर दृढ़ता से संकेत करता है, और उस परीक्षण को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करना है जो इसे खण्डित कर सकता है। यदि 1926 से 1947 के बीच के अंकों में 'संस्कृति' और 'संरक्षण' उसी आवृत्ति और उसी रक्षात्मक अर्थ में मिलें जिस अर्थ में वे 1948 के बाद मिलते हैं, तो यह आलेख गलत है।

दाँव क्या है। दो चीज़ें। पहली, गीता प्रेस के इतिहासलेखन में एक पद्धतिगत आदत है कि संस्था के आत्म-वर्णन को विश्लेषण की श्रेणी बना लिया जाता है। शोधकर्ता 'संस्कृति-संरक्षण' पर बहस करते हैं मानो यह एक वर्णनात्मक पद हो, जबकि यह एक विवादात्मक पद है, जो एक विशिष्ट विवाद में गढ़ा गया। दूसरी, और अधिक व्यापक, यदि यह तर्क सही है तो यह हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के उस बड़े इतिहास पर भी असर डालता है जिसमें 'संस्कृति' को एक प्राचीन, सतत श्रेणी की तरह पढ़ा जाता है। वह श्रेणी बहुत नई है, और उसका जन्म-प्रमाणपत्र विधिक है।

3. शोध-प्रविधि एवं उसकी सीमाएँ

इस खण्ड को आलेख के आरम्भ में रखना असामान्य है। मैं इसे यहाँ इसलिए रख रहा हूँ क्योंकि आगे के तर्क का मूल्य पूरी तरह इस बात पर निर्भर करता है कि पाठक जानता हो कि किस साक्ष्य पर क्या टिका है।

जो मैंने पढ़ा। इण्टरनेट आर्काइव पर *कल्याण* और *कल्याण-कल्पतरु* के आठ सौ से अधिक डिजिटल आइटम उपलब्ध हैं, जो 1928 से लेकर 2019 तक फैले हैं।[9] इनमें कई विशेषांक अलग-अलग आइटम के रूप में हैं, जिनमें भक्त अंक (1928), गीतांक (1929), साधन अंक (1940), गो अंक (1945), नारी अंक (1948), हिन्दू संस्कृति अंक, भक्तचरितांक (1952), बालक अंक (1953), भक्ति अंक (1958) और योग-तत्त्व अंक सम्मिलित हैं।[10] नारी अंक का जो संस्करण मैंने खोला उसमें 814 पृष्ठ हैं और उसका विवरण उसे स्पष्ट रूप से हिन्दू कोड बिल की प्रतिक्रिया में निकला अंक बताता है।[11] द्वितीयक साहित्य में मैंने अक्षय मुकुल, चारु गुप्ता, वासुधा दालमिया, फ्रांसेस्का ओर्सिनी और उलरिके स्टार्क का काम प्रयोग किया है, और प्रत्येक ग्रन्थ का प्रकाशन-विवरण स्वतन्त्र रूप से जाँचा है।

जो मैं नहीं पढ़ सका। मैंने *कल्याण* के 1926 से 1947 तक के अंकों का क्रमबद्ध पाठ नहीं किया। डिजिटल संचयन इस अवधि के लिए असमान है और उसमें अन्तराल हैं। देवनागरी सामग्री पर प्रकाशिकीय अक्षर-पहचान की विश्वसनीयता सीमित है, इसलिए मैंने स्वचालित शब्द-गणना पर कोई दावा नहीं टिकाया।

एक महत्त्वपूर्ण स्वीकारोक्ति। ऊपर पहले खण्ड में जिन अंकों और तिथियों का उल्लेख है, उनकी अन्तर्वस्तु मुझ तक एक सत्यापित द्वितीयक स्रोत के माध्यम से पहुँची है, मूल पृष्ठ से नहीं।[12] यह अन्तर छोटा नहीं है और मैं इसे छिपाना नहीं चाहता। जिसने वह द्वितीयक स्रोत लिखा उसने मूल अंक देखे थे और तिथियाँ तथा शीर्षक दिए हैं, इसलिए यह सामग्री उपयोग-योग्य है, पर जब तक कोई शोधकर्ता उन अंकों के पृष्ठ स्वयं नहीं देखता, तब तक इन उद्धरणों को पृष्ठ-सत्यापित नहीं माना जाना चाहिए। इस आलेख में इसलिए कहीं भी *कल्याण* के किसी वाक्य को उद्धरण-चिह्नों में मूल शब्दावली के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। जहाँ स्थिति बताई गई है, वह मेरे अपने शब्दों में है।

एक तिथि-सम्बन्धी विसंगति। *कल्याण* के प्रारम्भ-वर्ष पर स्रोत एकमत नहीं हैं। कुछ विवरण 1926 देते हैं, गीता प्रेस का अपना प्रकाशित विवरण 1927 कहता है।[13] यह अन्तर सम्भवतः विक्रम संवत और ईस्वी के बीच के अनुवाद से आया है। एक आन्तरिक संकेत 1926 के पक्ष में जाता है: 1945 का गो अंक आर्काइव-विवरण में संस्था का बीसवाँ वार्षिक विशेषांक बताया गया है, और बीस वर्ष पीछे गिनने पर 1926 मिलता है। यह संकेत सुझावात्मक है, निर्णायक नहीं, क्योंकि वार्षिक गणना का आधार स्वयं अनिश्चित है। इस आलेख का कोई तर्क इस एक वर्ष के अन्तर पर नहीं टिकाया गया है।

जो मैंने जान-बूझकर नहीं किया। मैंने प्रभाव का कोई कारण-सम्बन्धी दावा नहीं किया है। गीता प्रेस ने कुछ छापा और उत्तर भारत में कोई प्रथा फैली, ये दो तथ्य हैं, इनके बीच का सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए वितरण, पाठक-प्रतिक्रिया और स्थानीय आचरण का साक्ष्य चाहिए जो मेरे पास नहीं है।

4. पूर्व शोध की समीक्षा: मुकुल के बाद क्या शेष है

किसी भी ईमानदार आलेख को यहाँ रुकना पड़ेगा और अक्षय मुकुल का सामना करना पड़ेगा।

गीता प्रेस एण्ड द मेकिंग ऑफ़ हिन्दू इण्डिया (2015) इस विषय पर मानक ग्रन्थ है और उसने वह अधिकांश काम कर दिया है जो एक शोध-प्रस्ताव सामान्यतः अपने लिए बचाकर रखना चाहेगा।[14] यहाँ मुझे एक बात स्पष्ट कर देनी चाहिए जो इस खण्ड के प्रत्येक वाक्य पर लागू होती है। मैं इस शोध-सत्र में मुकुल की पुस्तक स्वयं नहीं पढ़ सका। नीचे जो कुछ कहा गया है वह उनकी पुस्तक की प्रकाशित समीक्षाओं और उससे व्युत्पन्न विवरणों पर आधारित है, और इसलिए उसे उनके तर्क का प्रामाणिक विवरण नहीं, एक अस्थायी आकलन माना जाना चाहिए।[15] जो शोधकर्ता इस आलेख को आगे बढ़ाए उसका पहला काम यही होना चाहिए कि मुकुल को पृष्ठ-सहित पढ़े और नीचे के आकलन को पुष्ट करे या रद्द करे।

इसका अर्थ यह है कि जो शोध-प्रस्ताव यह कहकर शुरू होता है कि गीता प्रेस ने एक उच्च-वर्ण हिन्दू सामान्य-बोध बनाया, या यह कि उसने स्त्री को पतिव्रता और आदर्श माता तक सीमित किया, वह मुकुल को दूसरे शब्दों में दोहरा रहा है। यह कठोर बात है पर सही है, और इसे शुरू में कह देना बाद में समीक्षक से सुनने से बेहतर है।

तो बचता क्या है।

मेरे अनुमान में तीन चीज़ें। पहली, मुकुल एक वृत्तान्तकार हैं, विश्लेषक कम। वे बताते हैं कि क्या हुआ, और अत्यन्त समृद्ध विवरण के साथ बताते हैं, पर वे संस्था की शब्दावली को प्रायः पारदर्शी मान लेते हैं। जब *कल्याण* 'संस्कृति' कहता है, मुकुल उसे संस्कृति पढ़ते हैं। इस शब्द का अपना इतिहास हो सकता है, यह प्रश्न उनके ढाँचे में केन्द्रीय नहीं है।

दूसरी, कालक्रम का प्रश्न। मुकुल का विवरण चलता तो कालक्रम में है, पर उनका निष्कर्षात्मक चित्र प्रायः स्थिर है: गीता प्रेस एक ऐसी संस्था के रूप में उभरती है जो शुरू से अन्त तक एक ही परियोजना पर काम कर रही थी। 1929 की सतर्कता और 1948 की आक्रामकता के बीच का अन्तर उनके पन्नों में मौजूद है, पर उसे व्याख्या का केन्द्र नहीं बनाया गया।

तीसरी, और यह सबसे संकीर्ण पर सबसे ठोस है, विधिक सन्दर्भ। हिन्दू कोड बिल का इतिहास और गीता प्रेस का इतिहास प्रायः अलग-अलग साहित्य में लिखे गए हैं। विधि-इतिहासकार आम्बेडकर, नेहरू और संसदीय बहसों पर काम करते हैं; मुद्रण-संस्कृति के इतिहासकार पत्रिकाओं पर। इन दोनों को एक साथ पढ़ने पर, विशेषतः तिथियों को आमने-सामने रखने पर, एक ऐसा सम्बन्ध दिखता है जिस पर पर्याप्त काम नहीं हुआ है।

यह चौथी सम्भावना भी खुली थी और मैंने उसे छोड़ दिया, इसलिए इसका उल्लेख कर देना उचित है: गीता प्रेस की तुलना किसी समकालीन प्रकाशक से, जैसे नवल किशोर प्रेस की परवर्ती गतिविधि से या किसी आर्य समाजी प्रकाशन-तन्त्र से, इस प्रश्न पर बहुत रोशनी डाल सकती है कि जो अनुपस्थितियाँ हम गीता प्रेस में देखते हैं वे चयन थीं या विधा की सामान्य सीमा। यह तुलनात्मक काम इस आलेख की सीमा से बाहर है और मैं इसे पूरा किए बिना अनुपस्थिति से आशय नहीं निकालूँगा।

5. दालमिया का बनारस और उससे निकलने वाला प्रश्न

प्रस्ताव में वासुधा दालमिया का उल्लेख एक समर्थक सन्दर्भ की तरह आता है: उन्होंने दिखाया कि उन्नीसवीं सदी के अन्त में बनारस में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की परम्परा ने हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान का त्रिकोण बनाया, और गीता प्रेस ने बीसवीं सदी में उसी काम को जन-जन तक पहुँचाया। यह प्रस्तुति दालमिया के काम का सम्मान नहीं करती, क्योंकि यह उन्हें एक पूर्ववर्ती बना देती है और उनके निष्कर्ष से निकलने वाला असली प्रश्न पूछे बिना आगे बढ़ जाती है।

दालमिया का तर्क यह है कि यह त्रिकोण स्वाभाविक नहीं था, वह बनाया गया, और वह विशिष्ट संस्थागत श्रम से बनाया गया: पत्रिकाएँ, सभाएँ, शब्दकोश, नागरी लिपि का अभियान, साहित्यिक इतिहास-लेखन, और वैष्णव सम्प्रदायों की पुनर्व्याख्या।[16] यह काम मुख्यतः भाषिक और साहित्यिक था। जो पहचान इससे निकली वह एक पाठक-समुदाय की पहचान थी: वह जो नागरी में पढ़ता है, जो इन ग्रन्थों को अपना मानता है, जो इस साहित्यिक वंश में स्वयं को रखता है।

अब प्रश्न यह है। यदि यह निर्माण-कार्य उन्नीसवीं सदी के अन्त तक पूरा हो चुका था, तो गीता प्रेस को 1948 में क्या करना बाकी था। यदि हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान का समीकरण पहले से उपलब्ध था, तो उसे दोहराने में आठ सौ पृष्ठ क्यों लगते।

मेरा उत्तर यह है कि दोनों क्षणों में जो बनाया जा रहा था वह अलग-अलग प्रकार का विषय था। दालमिया जिस निर्माण का वर्णन करती हैं उसका उत्पाद एक सांस्कृतिक-भाषिक विषय है, अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति जो स्वयं को हिन्दी-हिन्दू परम्परा का उत्तराधिकारी समझता है।

1948 में जो बनाया जा रहा था वह एक विधिक विषय है, अर्थात् एक ऐसा व्यक्ति जिसके विवाह, उत्तराधिकार, संरक्षकता और दत्तक-ग्रहण के सम्बन्ध राज्य की संहिता में एक विशिष्ट ढंग से दर्ज हों।

यह अन्तर मामूली नहीं है। साहित्यिक पहचान स्वैच्छिक होती है और उसकी सीमाएँ धुँधली रहती हैं; कोई व्यक्ति एक साथ कई साहित्यिक परम्पराओं में रह सकता है। विधिक पहचान स्वैच्छिक नहीं होती और उसकी सीमाएँ तीखी होती हैं; संहिता को यह तय करना पड़ता है कि कौन हिन्दू है और कौन नहीं, क्योंकि उसी से यह निर्धारित होगा कि किस पर कौन-सा उत्तराधिकार-नियम लागू होगा। जब राज्य ने यह प्रश्न खोला, तो सांस्कृतिक पहचान अचानक एक ऐसी चीज़ बन गई जिसका विधिक परिणाम था।

इसलिए 1948 की गतिविधि दालमिया के काम की पुनरावृत्ति नहीं है, वह उसका अगला चरण है, और वह एक भिन्न तर्क-भूमि पर है। यही कारण है कि उस समय की भाषा 'संस्कृति' की भाषा है, क्योंकि 'संस्कृति' एक ऐसा शब्द है जो साहित्यिक विरासत और विधिक समुदाय, दोनों का दावा एक साथ कर सकता है। धर्म बहुत संकीर्ण है, राष्ट्र बहुत व्यापक। संस्कृति ठीक बीच में बैठती है और इसीलिए उपयोगी है।

इस पाठ का एक परिणाम यह भी है कि गीता प्रेस को केवल 'लोकप्रियकरण' का माध्यम मानना गलत होगा। लोकप्रियकरण का अर्थ है किसी बने-बनाए विचार को अधिक लोगों तक पहुँचाना। यहाँ जो हुआ वह इससे अधिक था: एक ऐसी श्रेणी का निर्माण जो पहले उस रूप में उपलब्ध नहीं थी, अर्थात् एक विधिक रूप से रक्षणीय सांस्कृतिक समुदाय। दालमिया के बनारस में यह श्रेणी नहीं थी, क्योंकि वहाँ इसकी आवश्यकता नहीं थी। आवश्यकता तब पैदा हुई जब संविधान ने पारिवारिक विधि को खोल दिया।

6. 1923 से 1947: 'संस्कृति' से पहले की भाषा

गीता प्रेस की स्थापना 29 अप्रैल 1923 को हुई।[17] संस्थापकों में जयदयाल गोयन्दका, हनुमान प्रसाद पोद्दार और घनश्याम दास जालान थे, और तीनों मारवाड़ी व्यापारिक परिवेश से आते थे। *कल्याण* कुछ वर्ष बाद शुरू हुआ और पोद्दार 1971 तक उसके सम्पादक रहे।[18] यह अवधि की लम्बाई महत्त्वपूर्ण है। एक ही व्यक्ति ने लगभग पैंतालीस वर्ष तक एक पत्रिका सम्पादित की, जो हिन्दी पत्रकारिता में असामान्य है, और जो हमें एक दुर्लभ अवसर देता है: सम्पादकीय आवाज़ को स्थिर रखते हुए हम देख सकते हैं कि उस आवाज़ की शब्दावली कब और कैसे बदली।

आरम्भिक वर्षों की परियोजना, जितना उपलब्ध साक्ष्य से समझा जा सकता है, धार्मिक थी और वाणिज्यिक रूप से महत्त्वाकांक्षी थी। संस्था सस्ते संस्करणों में गीता, रामचरितमानस, पुराण और उपनिषद् छाप रही थी, प्रायः सरल हिन्दी अनुवाद के साथ। *कल्याण* का प्रसार तेज़ी से बढ़ा: 1926 के अन्त तक लगभग तीन हज़ार प्रतियाँ मासिक, 1931 के अन्त तक सोलह हज़ार, 1934 के अन्त तक साढ़े सत्ताईस हज़ार।[19] यह एक व्यावसायिक सफलता की कहानी है, और यह ओर्सिनी के उस चित्र में ठीक बैठती है जिसमें 1920 और 1930 के दशक का हिन्दी सार्वजनिक क्षेत्र पत्रिकाओं, सभाओं और प्रकाशन-गृहों के एक सघन जाल के रूप में उभरता है।[20]

इस विस्तार का अर्थ क्या निकाला जाए, यह प्रश्न आगे नवें खण्ड में उठाया गया है, जहाँ प्रकाशन की व्यापारिक तर्कशक्ति पर विचार किया गया है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि जो चीज़ गीता प्रेस को अपने समकालीनों से अलग करती है वह यह नहीं कि उसने क्या छापा, बल्कि यह कि उसने अपने छापने को किन शब्दों में समझाया, और वे शब्द कब आए।

इस बिन्दु पर मेरे पास जो सबसे उपयोगी नकारात्मक साक्ष्य है वह 1929 का है। उस वर्ष शारदा अधिनियम पारित हुआ, जिसने बाल-विवाह पर आयु-सीमा लगाई। यह ठीक वह प्रकार का हस्तक्षेप था जिसके विरुद्ध बीस वर्ष बाद *कल्याण* युद्ध छेड़ देगा: राज्य द्वारा हिन्दू पारिवारिक व्यवस्था में विधायी प्रवेश। पर 1929 में पत्रिका ने सतर्क दूरी बनाए रखी, और पोद्दार *कल्याण* को राजनीतिक बनाने के प्रति अनिच्छुक रहे।[21]

इस एक तथ्य से बहुत कुछ निकलता है। यदि 'संस्कृति-संरक्षण' संस्था का संस्थापक सिद्धान्त होता, तो 1929 उसकी परीक्षा की पहली घड़ी थी और वह परीक्षा में उपस्थित ही नहीं हुई। जो संस्था 1948 में एक विधेयक के विरुद्ध पाठकों से पत्र-अभियान चलवाएगी, वह 1929 में एक तुलनीय विधेयक पर चुप रही। यह चुप्पी अनुपस्थित साक्ष्य नहीं है, यह उपस्थित साक्ष्य है, क्योंकि यह हमें बताती है कि उस समय संस्था अपने काम को इस तरह नहीं समझती थी।

क्या इसका कोई और स्पष्टीकरण हो सकता है। हाँ, और उसे स्वीकार करना चाहिए। 1929 में पत्रिका तीन वर्ष पुरानी थी, उसका प्रसार अपेक्षाकृत छोटा था, और औपनिवेशिक राज्य के विरुद्ध सार्वजनिक अभियान चलाने के जोखिम स्वतन्त्र भारत की सरकार के विरुद्ध अभियान चलाने के जोखिम से भिन्न थे। एक धार्मिक प्रकाशन के लिए औपनिवेशिक सरकार से टकराव महँगा पड़ सकता था। यह स्पष्टीकरण गम्भीर है और मैं इसे खारिज नहीं करता। पर यह मेरे तर्क को पूरी तरह नहीं काटता, क्योंकि प्रश्न केवल यह नहीं है कि पत्रिका ने अभियान चलाया या नहीं, प्रश्न यह है कि उसने अपने विरोध को, जितना भी विरोध था, किस शब्दावली में रखा। और उपलब्ध विवरणों में 1929 के आसपास 'संस्कृति पर आक्रमण' की भाषा दिखाई नहीं देती।

यहाँ मुझे स्पष्ट रहना है। यह अनुपस्थिति का दावा है, और अनुपस्थिति का दावा उतना ही मज़बूत होता है जितनी खोज व्यवस्थित हो। मेरी खोज व्यवस्थित नहीं थी। इसलिए मैं इसे परिकल्पना के रूप में रखता हूँ और आगे इसका परीक्षण निर्दिष्ट करता हूँ।

7. 1948 से 1956: संकट और शब्द

अब दूसरी ओर देखिए।

हिन्दू कोड बिल की कालरेखा इस प्रकार है। 1941 में राव समिति ने एक हिन्दू संहिता की सिफ़ारिश की। 1947 में उसकी संशोधित रिपोर्ट आई, जिसमें संयुक्त परिवार की सम्पत्ति की समाप्ति, पुत्रियों के उत्तराधिकार, अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति और तलाक के प्रावधान थे। 1948 में विधि मन्त्रालय ने मसौदा संविधान सभा के लिए संशोधित किया। सभा में पचास घण्टे से अधिक बहस हुई और चर्चा एक वर्ष से अधिक के लिए स्थगित कर दी गई। अन्ततः विधेयक सभा की कार्यसूची से हटा दिया गया, आम्बेडकर ने इसी व्यवहार को कारण बताते हुए त्यागपत्र दिया, और 1951-52 के चुनाव के बाद नेहरू ने संहिता को चार अलग-अलग अधिनियमों में बाँटकर पारित कराया: हिन्दू विवाह

अधिनियम 1955, तथा हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, हिन्दू अवयस्कता और संरक्षकता अधिनियम एवं हिन्दू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम, तीनों 1956।[22]

अब इस कालरेखा को *कल्याण* की सामग्री पर रखिए। जून 1948 की टिप्पणी उसी वर्ष आती है जिस वर्ष मसौदा संविधान सभा में जाता है। जुलाई 1948 का पत्र-अभियान 4 अगस्त की एक निश्चित समय-सीमा से बँधा है, अर्थात् वह संसदीय प्रक्रिया की घड़ी से चल रहा है, धार्मिक कैलेण्डर से नहीं। मार्च 1949 की चार-पृष्ठीय आलोचना संवैधानिक और धार्मिक, दोनों आधारों पर तर्क करती है, जो एक धार्मिक पत्रिका के लिए उल्लेखनीय है। सितम्बर 1951 में, जब विधेयक व्यावहारिक रूप से गिर चुका है, पोद्दार का स्वर बदलता है और वे राष्ट्रीय प्राथमिकताओं की भाषा में लौटते हैं।

यह किसी सांस्कृतिक कार्यक्रम की लय नहीं है। यह एक विधायी अभियान की लय है, जो विधेयक के साथ उठता है और विधेयक के साथ बैठ जाता है।

और ठीक इसी दौर में 'संस्कृति' शब्द *कल्याण* की सतह पर आता है। जून 1948 का शीर्षक उसे संकट में डालता है। 1950 का विशेषांक उसे नाम देता है: हिन्दू संस्कृति अंक।[23] एक पत्रिका जो दो दशक से भक्ति, साधना, गो-सेवा और भक्त-चरित पर विशेषांक निकाल रही थी, अब एक विशेषांक 'संस्कृति' पर निकालती है, और वह भी उस वर्ष जब पारिवारिक विधि पर संघर्ष चरम पर है।

मैं यह नहीं कह रहा कि यह शब्द 1948 में आविष्कृत हुआ। 'संस्कृति' हिन्दी में उससे बहुत पहले से थी और हिन्दू राष्ट्रवादी विमर्श में भी थी। दालमिया ने दिखाया है कि उन्नीसवीं सदी के अन्त में बनारस में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के इर्द-गिर्द हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान को एक साथ बाँधने का काम हो चुका था।[24] मेरा दावा उससे संकीर्ण है और इसीलिए अधिक परीक्षणीय है: गीता प्रेस के आत्म-वर्णन में, अर्थात् उस भाषा में जिसमें संस्था अपने काम का औचित्य बताती है, 'संस्कृति का संरक्षण' 1948 के आसपास केन्द्रीय बनता है, और वह एक विधिक विरोधी के सामने केन्द्रीय बनता है।

क्यों 'संस्कृति', और क्यों 'धर्म' नहीं। यह प्रश्न इस पूरे तर्क का सबसे रोचक हिस्सा है और इसका उत्तर सम्भवतः रणनीतिक है। धर्म के आधार पर विरोध करने का अर्थ था स्वयं को एक सम्प्रदाय के रूप में प्रस्तुत करना, और नए संविधान के ढाँचे में एक सम्प्रदाय का दावा सीमित था। संस्कृति के आधार पर विरोध करने का अर्थ था स्वयं को एक सभ्यता के रूप में प्रस्तुत करना, और सभ्यता का दावा राष्ट्र पर दावा है। जब *कल्याण* कहता है कि हिन्दू कोड बिल हिन्दू संस्कृति के विनाश की योजना है, तो वह यह नहीं कह रहा कि विधेयक किसी सम्प्रदाय की आस्था को चोट पहुँचाता है। वह कह रहा है कि विधेयक भारत पर आक्रमण है। यह भाषिक चयन है और यह प्रभावी चयन है।

इसका एक और पहलू है जो कम सुखद है। जैसे-जैसे अभियान आगे बढ़ा, यह सम्प्रदायिक स्वर में भी उतरा, और पुत्रियों के उत्तराधिकार के प्रावधान को मुस्लिम विधि से उधार बताया गया।[25] यहाँ 'संस्कृति' की रक्षा का तर्क अपना असली आकार दिखा देता है: वह जिस चीज़ की रक्षा कर रहा है वह कोई सामान्य भारतीय विरासत नहीं, बल्कि एक विशिष्ट, सीमांकित और प्रतिद्वन्द्वी-निर्भर पहचान है, जिसे परिभाषित करने के लिए एक बाहरी की आवश्यकता है।

8. विशेषांकों की शब्दावली: एक जाँचने योग्य साक्ष्य

ऊपर के तर्क की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि वह मुख्यतः द्वितीयक विवरण पर टिका है। इसलिए यहाँ मैं एक ऐसा साक्ष्य रखना चाहता हूँ जो छोटा है पर जिसे मैंने स्वयं देखा है, और जो स्वतन्त्र रूप से जाँचा जा सकता है।

कल्याण के विशेषांक इस पत्रिका की सबसे दृश्य वस्तुएँ हैं। ये वार्षिक या अर्ध-वार्षिक विशाल खण्ड होते थे, प्रायः कई सौ पृष्ठों के, और इनका नामकरण सम्पादकीय निर्णय था। नाम इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह घोषणा है: पत्रिका सार्वजनिक रूप से बता रही है कि इस वर्ष उसका विषय क्या है। यदि किसी संस्था की प्राथमिकताएँ बदलती हैं, तो उसके विशेषांकों के शीर्षकों में वह बदलाव दिखना चाहिए।

इण्टरनेट आर्काइव पर उपलब्ध विशेषांकों में जिनकी तिथि निर्धारित की जा सकती है, वे इस क्रम में आते हैं। 1928 में भक्त अंक। 1929 में गीतांक। 1940 में साधन अंक। 1945 में गो अंक, जो संस्था का बीसवाँ वार्षिक विशेषांक बताया गया है। फिर 1948 में नारी अंक। इसके बाद हिन्दू संस्कृति अंक, जिसे उपलब्ध विवरण 1950 का बताते हैं। 1952 में भक्तचरितांक, 1953 में बालक अंक, 1958 में भक्ति अंक।[26]

अब इन नामों को दो समूहों में बाँटिए।

पहला समूह: भक्त, गीता, साधन, गो, भक्तचरित, भक्ति। ये सब धार्मिक अभ्यास और भक्ति-जीवन की श्रेणियाँ हैं। इनका पाठक व्यक्ति है, और इनका विषय उस व्यक्ति का आन्तरिक और अनुष्ठानिक जीवन है। गो अंक थोड़ा अलग है क्योंकि गोरक्षा एक सार्वजनिक-राजनीतिक मुद्दा भी था, पर 1945 में गोरक्षा की भाषा अब भी मुख्यतः धार्मिक कर्तव्य की भाषा थी।

दूसरा समूह: नारी, हिन्दू संस्कृति, बालक। ये श्रेणियाँ भिन्न हैं। इनका विषय व्यक्ति की भक्ति नहीं, समाज की संरचना है। 'नारी' एक सामाजिक भूमिका है, 'बालक' एक सामाजिक श्रेणी है, और 'हिन्दू संस्कृति' एक सामूहिक पहचान है। ये तीनों ठीक वे क्षेत्र हैं जिन पर 1948 से 1956 के बीच विधायी संघर्ष चल रहा था: विवाह और स्त्री का उत्तराधिकार, अवयस्कता और संरक्षकता, और पूरे हिन्दू समुदाय की विधिक परिभाषा।

इन दोनों समूहों का सम्बन्ध प्रतिस्थापन का नहीं है। भक्ति-श्रेणियाँ 1948 के बाद भी चलती रहती हैं, जैसा 1952 के भक्तचरितांक और 1958 के भक्ति अंक से स्पष्ट है। जो बात कही जा सकती है वह अधिक सीमित है: उपलब्ध और तिथि-निर्धारण योग्य विशेषांकों में सामाजिक-संरचनात्मक श्रेणी का पहला उदाहरण 1948 का है, और उससे पहले के बीस वर्षों में, जहाँ तक यह सूची जाती है, ऐसी कोई श्रेणी नहीं दिखती।

मैं इस साक्ष्य को उसकी वास्तविक सीमा में रखना चाहता हूँ, क्योंकि इसे बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना आसान होगा और गलत होगा।

पहली सीमा यह है कि यह डिजिटल रूप से उपलब्ध विशेषांकों की सूची है, सम्पूर्ण सूची नहीं। गीता प्रेस ने इस अवधि में और भी विशेषांक निकाले होंगे जो आर्काइव पर नहीं हैं या जिनकी तिथि आइटम-विवरण से नहीं निकलती। यदि उन अनुपलब्ध अंकों में 1930 के दशक का कोई 'संस्कृति अंक' निकल आता है, तो यह पूरा प्रतिरूप ढह जाता है।

दूसरी सीमा अधिक बुनियादी है और वह मेरे अपने वर्गीकरण पर लागू होती है। 'नारी' और 'बालक' को सामाजिक-संरचनात्मक श्रेणी कहना एक व्याख्या है, तथ्य नहीं। इन्हें उतनी ही सहजता से गार्हस्थ्य-धर्म की श्रेणियाँ पढ़ा जा सकता है, अर्थात् उसी भक्ति-परम्परा का विस्तार जिसमें गृहस्थ के कर्तव्य आते हैं। यदि कोई यह पाठ ले, तो 1948 में कोई विच्छेद नहीं दिखेगा, केवल निरन्तरता दिखेगी। मेरे वर्गीकरण के पक्ष में जो बात जाती है वह अंकों के नाम नहीं, उनका समय है: ये श्रेणियाँ ठीक तब आती हैं जब इन्हीं विषयों पर विधायी संघर्ष चल रहा है। पर यह समय-आधारित तर्क है, अन्तर्वस्तु-आधारित नहीं, और इसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

तीसरी सीमा सबसे गम्भीर है। शीर्षक अन्तर्वस्तु नहीं है। यह सम्भव है कि 1940 के साधन अंक के भीतर 'संस्कृति की रक्षा' पर लम्बे लेख हों और शीर्षक से वह न दिखे। इसकी जाँच केवल अंकों को खोलकर हो सकती है, और मैंने वह नहीं किया।

इन तीनों सीमाओं के बावजूद यह साक्ष्य कुछ करता है। यह उस परिकल्पना को, जो अब तक केवल द्वितीयक विवरण पर टिकी थी, एक स्वतन्त्र और सार्वजनिक रूप से जाँचने योग्य आधार देता है। कोई भी शोधकर्ता आर्काइव खोलकर इन आइटम-नामों की सूची देख सकता है और स्वयं तय कर सकता है कि यह क्रम अर्थपूर्ण है या संयोग।

यहाँ एक और बात जोड़नी चाहिए जो इस क्रम को अधिक अर्थ देती है। नारी अंक का आकार असामान्य है। आठ सौ से अधिक पृष्ठ किसी पत्रिका के मासिक अंक का आकार नहीं है, यह एक ग्रन्थ का आकार है। इतने बड़े खण्ड की योजना, लेखन, सम्पादन और मुद्रण में महीनों लगते हैं और उसमें भारी पूँजी लगती है। जब कोई प्रकाशक 1948 में, ठीक उस वर्ष जब विधेयक संविधान सभा में जाता है, स्त्री-विषय पर आठ सौ पृष्ठ का खण्ड निकालता है, तो यह प्रतिक्रिया-मात्र नहीं है, यह निवेश है। और निवेश यह बताता है कि संस्था ने इस टकराव को अपने अस्तित्व से जुड़ा माना।

9. प्रकाशन की व्यापारिक तर्कशक्ति और 1948 का दाँव

इस बिन्दु पर एक ऐसे प्रश्न पर आना ज़रूरी है जिसे गीता प्रेस पर लिखने वाले प्रायः विचारधारा के प्रश्न में घुला देते हैं। प्रश्न यह है कि यह संस्था चलती कैसे थी।

गीता प्रेस के संस्थापक मारवाड़ी व्यापारिक परिवेश से आते थे और संस्था का वित्तीय आधार उसी समुदाय के व्यापारिक जाल में था।[27] यह तथ्य दो विपरीत ढंग से पढ़ा जा सकता है, और दोनों पाठ अपूर्ण हैं।

पहला पाठ, जो आलोचनात्मक साहित्य में आम है, यह है कि व्यापारिक पूँजी ने एक रूढ़िवादी सांस्कृतिक परियोजना को वित्त दिया, अर्थात् पैसा विचारधारा की सेवा में था। दूसरा पाठ, जो संस्था के प्रशंसकों में मिलता है, यह है कि यह एक सेवा-कार्य था जिसमें लाभ का उद्देश्य नहीं था।

स्टार्क का काम एक तीसरा और अधिक उपयोगी ढाँचा देता है। नवल किशोर प्रेस पर उनका अध्ययन दिखाता है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तर भारत में बड़े देशी प्रकाशन-गृह एक साथ व्यापारिक उद्यम और सांस्कृतिक संस्थाएँ थे, और इन दोनों भूमिकाओं को अलग करना ऐतिहासिक रूप से गलत है।[28] प्रकाशक धार्मिक ग्रन्थ इसलिए छापता था कि वे बिकते थे, और वे बिकते थे इसलिए कि उनकी माँग थी, और माँग स्वयं एक सामाजिक तथ्य थी जिसे प्रकाशक ने बनाया भी और पूरा भी किया।

इस ढाँचे में गीता प्रेस को रखने से एक बात दिखती है जो केवल विचारधारा-केन्द्रित पाठ से छूट जाती है। सस्ते धार्मिक ग्रन्थों का विशाल उत्पादन अपने आप में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद नहीं है। नवल किशोर ने भी विशाल मात्रा में छापा, जिसमें संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और हिन्दी सब थीं, और उन्हें कोई सांस्कृतिक रक्षक नहीं कहता। अन्तर मात्रा में नहीं, आत्म-वर्णन में है।

और यहीं इस आलेख का तर्क अपनी जगह पाता है। एक व्यापारिक तर्कशक्ति पर चलने वाले प्रकाशन-गृह के लिए 1948 का संकट केवल वैचारिक नहीं था। हिन्दू कोड बिल जिस चीज़ को पुनर्परिभाषित करने जा रहा था, अर्थात् हिन्दू परिवार, विवाह, उत्तराधिकार और संस्कार, वही गीता प्रेस के उत्पाद-सूची का बड़ा हिस्सा था। व्रत-विधि, संस्कार-विधि, गृहस्थ-धर्म और स्त्री-आचरण पर पुस्तकें उसकी नियमित आय थीं। यदि राज्य विवाह को अनुबन्ध घोषित कर देता और उत्तराधिकार को पुनर्लिखित कर देता, तो जिस धार्मिक-पारिवारिक व्यवस्था के लिए ये पुस्तकें मार्गदर्शिका थीं, उसकी विधिक स्थिति ही बदल जाती।

मैं यह नहीं कह रहा कि गीता प्रेस ने बिक्री बचाने के लिए अभियान चलाया। ऐसा सरल आर्थिक स्पष्टीकरण न तो साक्ष्य-समर्थित है न विश्वसनीय, और मैं इसे प्रस्तुत नहीं कर रहा। जो मैं कह रहा हूँ वह अधिक सूक्ष्म है: इस संस्था के लिए धार्मिक विश्वास, सामाजिक दृष्टि और व्यावसायिक हित एक ही दिशा में जाते थे, और इसीलिए 1948 का टकराव इतना पूर्ण और इतना संगठित था। जब किसी संस्था के सभी हित एक साथ खतरे में पड़ते हैं, तो वह अपने लिए एक ऐसी भाषा खोजती है जो उन सबको एक शब्द में समेट ले। वह शब्द 'संस्कृति' था।

यह व्याख्या परीक्षणीय है। यदि 1948 से 1956 के बीच गीता प्रेस की व्रत, संस्कार और गृहस्थ-धर्म सम्बन्धी पुस्तकों के पुनर्मुद्रण और प्रसार में कोई विशेष बदलाव दिखे, या यदि इस अवधि में संस्था ने इन विषयों पर नई पुस्तकें निकालीं, तो यह व्याख्या मज़बूत होगी। यदि उत्पाद-सूची अपरिवर्तित रही, तो यह कमज़ोर होगी। यह जाँच संस्था की प्रकाशन-सूचियों से की जा सकती है, जो उपलब्ध हैं, और मैंने वह जाँच नहीं की।

10. नारी अंक 1948: एक विधायी प्रति-दस्तावेज़

1948 का नारी अंक इस तर्क का सबसे ठोस प्रमाण है, और साथ ही वह जगह है जहाँ प्रस्ताव के चौथे उपखण्ड का पुनर्लेखन आवश्यक हो जाता है।

यह अंक विशाल है, आठ सौ से अधिक पृष्ठों का, और इसका डिजिटल विवरण उसे स्पष्ट रूप से हिन्दू कोड बिल की प्रतिक्रिया में निकला अंक बताता है।[29] यह तथ्य अकेले ही बहुत कुछ बदल देता है। सामान्य पाठ में नारी अंक को गीता प्रेस के स्त्री-सम्बन्धी रूढ़िवाद का संकलन माना जाता है, अर्थात् एक ऐसे विचार का विस्तृत प्रस्तुतीकरण जो संस्था हमेशा से रखती थी। पर यदि यह अंक एक विधेयक के उत्तर में निकला, तो वह संकलन नहीं है, वह प्रत्युत्तर है। और प्रत्युत्तर की संरचना उसके प्रतिपक्षी से निर्धारित होती है।

सोचिए कि विधेयक क्या प्रस्तावित कर रहा था: पुत्री का उत्तराधिकार, तलाक, अन्तर्जातीय विवाह, संयुक्त परिवार की सम्पत्ति की समाप्ति। अब सोचिए कि आठ सौ पृष्ठ का एक अंक जो इनके विरुद्ध खड़ा हो, उसे क्या स्थापित करना होगा: कि स्त्री की पूर्णता विवाह और मातृत्व में है, कि पारिवारिक इकाई अविभाज्य है, कि विवाह अनुबन्ध नहीं संस्कार है, कि जाति-सीमाएँ धार्मिक हैं। दूसरे शब्दों में, नारी अंक की अन्तर्वस्तु का ढाँचा हिन्दू कोड बिल की धाराओं का दर्पण है।

यह पढ़ने का तरीका चारु गुप्ता के काम से बल पाता है। *सेक्शुऐलिटी, ऑब्सीनिटी, कम्युनिटी* में गुप्ता ने दिखाया कि औपनिवेशिक उत्तर भारत में हिन्दू सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्री-देह और स्त्री-आचरण के बारे में जो विमर्श बना, वह सदा किसी न किसी कथित संकट के उत्तर में बना: धर्मान्तरण का भय, मुस्लिम पुरुष की छवि, अपहरण की कथाएँ।[30] *द जेण्डर ऑफ कास्ट* में वे इस पद्धति को दलित प्रतिनिधित्व पर लागू करती हैं और दिखाती हैं कि मुद्रित छवि किस तरह जातिगत और लैंगिक अनुशासन एक साथ करती है।[31] गुप्ता का पद्धतिगत सूत्र यही है कि आदर्श स्त्री की छवि कभी शून्य में नहीं गढ़ी जाती, वह सदा किसी प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध गढ़ी जाती है। नारी अंक के मामले में वह प्रतिद्वन्द्वी असामान्य रूप से स्पष्ट है, क्योंकि वह एक विधेयक है और उसका पाठ उपलब्ध है।

यहाँ मुझे उस उद्धरण पर आना होगा जो इस विषय पर बार-बार दोहराया जाता है और जो, मेरी राय में, अधिकांश शोध में गलत ढंग से प्रयुक्त होता है। वह पंक्ति जिसके अनुसार स्त्री को विवाह तक पिता के साथ, विवाहित जीवन में पति के साथ और उनकी मृत्यु के बाद पुत्र के साथ रहना चाहिए और वह किसी भी परिस्थिति में स्वतन्त्र नहीं हो सकती, प्रायः जयदयाल गोयन्दका के व्यक्तिगत कथन के रूप में उद्धृत की जाती है।

यह पंक्ति मनुस्मृति की है। मनुस्मृति 9.3 और 5.148 में यही बात लगभग इन्हीं शब्दों में मिलती है।[32] इसका अर्थ यह नहीं कि गोयन्दका ने ऐसा नहीं कहा या लिखा; बहुत सम्भव है कि उन्होंने या *कल्याण* के किसी लेखक ने इसे उद्धृत किया हो, क्योंकि यह श्लोक सनातनी विमर्श में अत्यन्त प्रचलित था। पर जब तक कोई शोधकर्ता इसे किसी विशिष्ट अंक के विशिष्ट पृष्ठ पर नहीं दिखाता, तब तक इसे गोयन्दका का मौलिक कथन बताना स्रोत-विषयक भूल है, और समीक्षा में यह भूल पकड़ी जाएगी।

पर असली बात यह है कि इस उद्धरण को व्यक्तिगत कथन के रूप में पढ़ना ऐतिहासिक रूप से कम रोचक है। एक मारवाड़ी प्रकाशक बीसवीं सदी के आरम्भ में स्त्री-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध था, इसमें कोई आश्चर्य नहीं और इससे कोई नया ज्ञान नहीं मिलता। जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि एक संस्कृत धर्मशास्त्रीय निषेध को सस्ते हिन्दी मुद्रण में डालकर उन घरों तक पहुँचाया गया जिनकी उस पाठ तक पहले कोई पहुँच नहीं थी। यह पहुँच का प्रश्न है, विचार का नहीं। और यह पहुँच 1948 में एक विधेयक के विरुद्ध हथियार के रूप में काम आई।

इस पुनर्रचना का एक और लाभ है। यह उस साक्ष्य पर टिकती है जो वास्तव में जुटाया जा सकता है, अर्थात् प्रसार-संख्या, संस्करण, मूल्य और वितरण, न कि उस साक्ष्य पर जो एक व्यक्ति के निजी विचारों के बारे में है और जिस तक पहुँचना कठिन है।

11. लोकतंत्रीकरण का विरोधाभास और उसकी सीमा

अब उस दावे पर आते हैं जो गीता प्रेस के पक्ष में सबसे अधिक दोहराया जाता है और जिसे इस आलेख को भी स्वीकार करना है, यद्यपि पूरी तरह नहीं।

तर्क यह है: औपनिवेशिक भारत में संस्कृत ग्रन्थों तक पहुँच मुख्यतः ब्राह्मण विद्वानों तक सीमित थी, और गीता प्रेस ने सरल हिन्दी अनुवाद के साथ सस्ते संस्करण छापकर उस ज्ञान को हिन्दी-भाषी जनसमाज तक पहुँचाया। संख्याएँ इस दावे का समर्थन करती हैं। संस्था के अपने आँकड़ों के अनुसार उसने अपनी स्थापना से अब तक चौदह भाषाओं में इकतालीस करोड़ से अधिक पुस्तकें छापी हैं, जिनमें गीता की चौदह करोड़ से अधिक और रामचरितमानस की दस करोड़ से अधिक प्रतियाँ हैं।[33] ये आँकड़े संस्था के अपने हैं और इसलिए इन्हें स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता, पर परिमाण की कोटि पर सन्देह करने का कारण नहीं है।

यह उपलब्धि वास्तविक है। पर इसे 'लोकतंत्रीकरण' कहना दो कारणों से समस्याग्रस्त है।

पहला कारण अनुवाद की प्रकृति से जुड़ा है। जब कोई संस्था किसी ग्रन्थ का अनुवाद और भाष्य एक साथ छापती है, और उस भाष्य को दशकों तक करोड़ों प्रतियों में दोहराती है, तो वह पहुँच बढ़ाने के साथ-साथ व्याख्या को संकुचित भी करती है। पाठक को ग्रन्थ मिलता है, पर उसे ग्रन्थ का एक ही पाठ मिलता है। जिस बहुलता को संस्कृत परम्परा में भाष्यकारों के आपसी विवाद ने बनाए रखा था, वह सस्ते जनसंस्करण में लुप्त हो जाती है, क्योंकि जनसंस्करण को विवाद की आवश्यकता नहीं होती, उसे बिक्री-योग्य निश्चितता की आवश्यकता होती है।

यहाँ आइज़ेनस्टीन का उल्लेख अपरिहार्य लगता है, और इसीलिए मैं उस पर रुकना चाहता हूँ। उनका प्रसिद्ध तर्क यह है कि मुद्रण ने एक साथ विविधता और एकरूपता दोनों को बढ़ाया।[34] यह तर्क आकर्षक है और इसे उद्धृत करना आसान है, पर आरम्भिक आधुनिक यूरोप और औपनिवेशिक गोरखपुर के बीच जो अन्तर हैं वे इतने बड़े हैं कि सीधे लागू करना भ्रामक होगा। यूरोप में मुद्रण-क्रान्ति एक ऐसे भाषिक परिदृश्य में हुई जहाँ लैटिन से जनभाषाओं की ओर संक्रमण चल रहा था और जहाँ राज्य स्वयं इस प्रक्रिया में हितधारक था। भारत में जो राज्य था वह औपनिवेशिक था, साक्षरता का ढाँचा जातिगत था, और हिन्दी स्वयं एक निर्माणाधीन मानक भाषा थी।

तो आइज़ेनस्टीन से क्या मिलता है। एक चीज़ मिलती है, और वह यह कि उन्होंने यह प्रश्न पूछने योग्य बनाया कि क्या एक ही तकनीक एक साथ विपरीत प्रभाव डाल सकती है। पर वह उत्तर नहीं देतीं, और गीता प्रेस के मामले में उत्तर उनके ढाँचे से नहीं निकलता। जहाँ उनका ढाँचा टूटता है वह यह है: यूरोप में एकरूपता मुख्यतः पाठ की स्थिरता से आई, अर्थात् एक ही संस्करण की हज़ारों समरूप प्रतियों से। गीता

प्रेस के मामले में एकरूपता पाठ से कम और भाष्य से अधिक आई, और भाष्य एक सम्पादकीय निर्णय था, तकनीकी परिणाम नहीं। इसलिए यहाँ जो हुआ उसे मुद्रण का प्रभाव कहना गलत होगा; वह एक सम्पादक का प्रभाव था जिसे मुद्रण ने सम्भव बनाया।

इस अन्तर को स्पष्ट करने के बाद आइज़ेनस्टीन की आवश्यकता समाप्त हो जाती है, और ओर्सिनी तथा स्टार्क अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं, क्योंकि उन्होंने इसी मुद्रण-अर्थव्यवस्था पर काम किया है।[35]

दूसरा कारण अधिक बुनियादी है। 'लोकतंत्रीकरण' शब्द अपने साथ एक राजनीतिक अर्थ लाता है जिसे इस मामले में साक्ष्य समर्थन नहीं देता। लोकतंत्रीकरण का अर्थ केवल वितरण का विस्तार नहीं है, उसका अर्थ है निर्णय-अधिकार का हस्तान्तरण। गीता प्रेस ने वितरण का विस्तार किया, पर व्याख्या का अधिकार उसने कहीं हस्तान्तरित नहीं किया। जिस पाठक को गीता मिली उसे यह अधिकार नहीं मिला कि वह गीता का कोई भिन्न अर्थ निकाले और उसे उसी तन्त्र से छपवा सके। इसलिए यहाँ जो हुआ उसे पहुँच का विस्तार कहना ठीक है, लोकतंत्रीकरण कहना अतिशयोक्ति है, और यह अतिशयोक्ति निर्दोष नहीं है क्योंकि यह संस्था के अपने आत्म-प्रचार की भाषा को दोहराती है।

12. मानकीकरण के दावे की साक्ष्य-सीमा

प्रस्ताव का तीसरा उपखण्ड एक ऐसा दावा करता है जो सही हो सकता है पर जिसका साक्ष्य-भार सामान्यतः कम आँका जाता है। दावा यह है कि गीता प्रेस ने त्योहार, व्रत और संस्कार सम्बन्धी पुस्तकों के माध्यम से क्षेत्रीय धार्मिक विविधता को एक मानक हिन्दू आचार-संहिता में संकुचित किया।

यह दावा तीन भागों में टूटता है, और तीनों को अलग-अलग सिद्ध करना पड़ता है।

पहला भाग: हस्तक्षेप से पहले क्षेत्रीय विविधता प्रलेखित हो। यह अपने आप में एक बड़ा शोध-कार्य है, जिसके लिए उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ के क्षेत्रीय विवरण, जनगणना-टिप्पणियाँ, नृतत्त्वीय सर्वेक्षण और स्थानीय पंचांग चाहिए।

दूसरा भाग: गीता प्रेस का निर्देश स्वयं उपलब्ध हो। यह अपेक्षाकृत सरल है, क्योंकि पुस्तकें छपी हुई हैं और मिलती हैं।

तीसरा भाग: ग्रहण का साक्ष्य हो। अर्थात् यह दिखाया जाए कि लोगों ने वास्तव में इन निर्देशों को अपनाया। इसके लिए प्रसार-संख्या पर्याप्त नहीं है, क्योंकि बिकना और माना जाना दो अलग बातें हैं। चाहिए पुनर्मुद्रण की शृंखला, पाठकों के पत्र, अन्य प्रकाशकों द्वारा वही रूप अपनाना, या स्थानीय स्तर पर प्रथा-परिवर्तन का स्वतन्त्र विवरण।

मेरे पास दूसरा भाग है और तीसरे भाग का एक अंश है। पहला भाग नहीं है। इसलिए ईमानदार निष्कर्ष यह है कि मानकीकरण यहाँ एक परिकल्पना है, निष्कर्ष नहीं, और मैं इसे परिकल्पना ही कहूँगा।

इस प्रसंग में करवा चौथ का उदाहरण, जो इस प्रकार की चर्चाओं में बार-बार आता है, विशेष रूप से कमज़ोर है। इस व्रत का उत्तर भारत में जो व्यापक प्रसार दिखता है वह 1990 के दशक से हिन्दी सिनेमा और टेलीविज़न से गहराई से जुड़ा हुआ है। यह प्रतिस्पर्धी व्याख्या मुद्रण-आधारित व्याख्या को सीधे चुनौती देती है, और उसका उत्तर दिए बिना करवा चौथ को मुद्रण-मानकीकरण का प्रमाण बताना तर्क में छेद छोड़ता है। जिस शोधकर्ता को मानकीकरण सिद्ध करना है उसे ऐसा उदाहरण चुनना चाहिए जिसका प्रसार टेलीविज़न-पूर्व काल में हुआ हो, ताकि कारण-शृंखला में मुद्रण दिखाई दे।

यही सावधानी प्रस्ताव के पहले उपखण्ड की उस बात पर भी लागू होती है कि बौद्ध, जैन, सिख, आदिवासी और दलित परम्पराएँ गीता प्रेस के 'भारतीय संस्कृति' से अनुपस्थित हैं। यह अनुपस्थिति तथ्य है। पर अनुपस्थिति तभी अर्थपूर्ण होती है जब वह चयन हो। यह भी सम्भव है कि भक्ति-केन्द्रित हिन्दी धार्मिक प्रकाशन की विधा में ये परम्पराएँ वैसे भी नहीं आतीं, और तब अनुपस्थिति संस्था के बारे में नहीं, विधा के बारे में तथ्य है। इन दोनों में अन्तर करने का एक ही तरीका है: किसी समकालीन प्रकाशक से तुलना, जिसका दायरा भिन्न रहा हो। वह तुलना किए बिना बहिष्कार का आरोप सिद्ध नहीं होता, और मैं इस आलेख में उसे सिद्ध होने का दावा नहीं कर रहा।

13. सम्भावित आपत्ति और उसका उत्तर

अब मुझे अपने ही तर्क के विरुद्ध सबसे मज़बूत आपत्ति रखनी चाहिए, क्योंकि उसे टालना बेईमानी होगी।

आपत्ति यह है। यह आलेख कहता है कि 'संस्कृति-संरक्षण' 1948 के आसपास गढ़ा गया, पर इसका आधार मुख्यतः यह है कि लेखक को 1948 से पहले वह भाषा नहीं मिली। किसी चीज़ का न मिलना उसके न होने का प्रमाण नहीं है, विशेषतः तब जब खोज अधूरी हो, और लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने 1926 से 1947 तक के अंक क्रमबद्ध रूप से नहीं पढ़े। इसके अतिरिक्त, 1920 के दशक में हिन्दू सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की शब्दावली भारत में मौजूद थी। सावरकर का *हिन्दुत्व* 1923 में छप चुका था, हिन्दू महासभा सक्रिय थी, और आर्य समाज तथा सनातन धर्म सभाओं के बीच जो विवाद चल रहा था वह सांस्कृतिक परिभाषा का ही विवाद था। ऐसे परिवेश में यह मान लेना कठिन है कि गीता प्रेस ने पच्चीस वर्ष तक 'संस्कृति' की भाषा से दूरी बनाए रखी और फिर अचानक 1948 में उसे अपना लिया।

यह आपत्ति गम्भीर है और इसका एक हिस्सा सही है। मैं तीन बातें कहूँगा।

पहली, मैं यह दावा नहीं कर रहा कि शब्द अनुपस्थित था। मैं यह दावा कर रहा हूँ कि वह केन्द्रीय नहीं था, और यह दोनों में अन्तर है। किसी पत्रिका में कोई शब्द कभी-कभी आना और उस शब्द का पत्रिका के आत्म-औचित्य का आधार बन जाना, ये दो अलग स्थितियाँ हैं। दूसरी स्थिति के लिए हमारे पास 1948 के बाद का प्रत्यक्ष साक्ष्य है: शीर्षक, विशेषांक, अभियान। पहली स्थिति के लिए 1948 से पहले उतना ही प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं दिखता, और यह असमानता स्वयं सूचनात्मक है, यद्यपि निर्णायक नहीं।

दूसरी, 1929 की चुप्पी को केवल अनुपस्थिति नहीं माना जा सकता। वह एक अवसर था जिस पर संस्था ने कार्रवाई नहीं की। यदि संस्कृति की रक्षा उसका संगठनकारी सिद्धान्त होता, तो शारदा अधिनियम पर उसकी प्रतिक्रिया 1948 जैसी होती। नहीं हुई। यह सकारात्मक साक्ष्य है, नकारात्मक नहीं।

तीसरी, और यह सबसे महत्त्वपूर्ण है, सावरकर और हिन्दू महासभा की उपस्थिति मेरे तर्क को कमज़ोर नहीं करती, बल्कि उसे और रोचक बनाती है। यदि 'हिन्दू संस्कृति' की शब्दावली 1923 से उपलब्ध थी और गीता प्रेस ने उसे 1948 तक नहीं अपनाया, तो प्रश्न यह हो जाता है कि उसने इतनी देर क्यों की। इसका उत्तर सम्भवतः यह है कि गीता प्रेस अपने पहले दो दशकों में स्वयं को राजनीतिक संगठन नहीं, धार्मिक प्रकाशक मानती थी, और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भाषा उस समय राजनीतिक भाषा थी। 1948 में परिस्थिति बदली, क्योंकि अब राज्य स्वयं धार्मिक क्षेत्र में प्रवेश कर रहा था, और तब धार्मिक प्रकाशक के लिए राजनीतिक भाषा अपनाना आवश्यक हो गया।

फिर भी, इस आपत्ति का एक हिस्सा अनुत्तरित रहता है, और मैं उसे अनुत्तरित छोड़ रहा हूँ। यह आलेख जो प्रस्तुत करता है वह एक सुसंगत और परीक्षणीय व्याख्या है, सिद्ध प्रमेय नहीं। इसे सिद्ध या खण्डित करने के लिए एक विशिष्ट कार्य आवश्यक है, और मैं उसे नीचे स्पष्ट रूप से रख रहा हूँ।

परीक्षण: 1926 से 1955 तक के *कल्याण* के सभी उपलब्ध अंकों में 'संस्कृति', 'सभ्यता', 'धर्म', 'सनातन' और 'रक्षा' या 'संरक्षण' शब्दों की वार्षिक आवृत्ति की गणना, और प्रत्येक प्रयोग का सन्दर्भ-वर्गीकरण, अर्थात् वह प्रयोग वर्णनात्मक है या रक्षात्मक। यदि रक्षात्मक प्रयोग की आवृत्ति 1947-48 के आसपास तीव्र वृद्धि दिखाती है, तो यह आलेख सही है। यदि वह वृद्धि 1930 के दशक में या उससे पहले दिखती है, या यदि वृद्धि क्रमिक है और किसी विशिष्ट वर्ष से नहीं जुड़ती, तो यह आलेख गलत है और उसे वापस लेना होगा।

14. निष्कर्ष

इस आलेख ने क्या दिखाया।

इसने दिखाया कि गीता प्रेस का हिन्दू कोड बिल-विरोधी अभियान 1948 से 1951 के बीच तिथिवार रूप से केन्द्रित था, और यह कि उस अभियान की लय संसदीय प्रक्रिया की लय से मेल खाती थी। इसने दिखाया कि उसी अवधि में 'संस्कृति' शब्द *कल्याण* के शीर्षकों और विशेषांकों में एक संकटग्रस्त और रक्षणीय वस्तु के रूप में उपस्थित होता है, जबकि उससे पहले के दो दशकों में संस्था की सार्वजनिक भाषा मुख्यतः भक्ति और धर्म की थी और 1929 के शारदा अधिनियम जैसे तुलनीय अवसर पर उसने कोई तुलनीय अभियान नहीं चलाया। इसने यह भी दिखाया कि 1948 का नारी अंक एक स्वतन्त्र सांस्कृतिक कथन के बजाय एक विधायी प्रति-दस्तावेज़ के रूप में पढ़ने पर अधिक अर्थपूर्ण होता है, क्योंकि उसकी विषय-सूची हिन्दू कोड बिल की प्रस्तावित धाराओं का उत्तर देती हुई प्रतीत होती है।

इसने क्या नहीं दिखाया।

इसने यह सिद्ध नहीं किया कि 1948 से पहले 'संस्कृति' की भाषा अनुपस्थित थी, क्योंकि उसके लिए जो व्यवस्थित पाठ चाहिए वह इस आलेख के पीछे नहीं है। इसने यह भी सिद्ध नहीं किया कि गीता प्रेस के प्रकाशनों ने वास्तविक धार्मिक आचरण को बदला, क्योंकि प्रभाव के लिए जो स्वतन्त्र साक्ष्य चाहिए वह प्रस्तुत नहीं किया गया। और इसने बहिष्कार के आरोप को सिद्ध नहीं किया, क्योंकि उसके लिए आवश्यक तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया गया।

जो बचता है वह एक पुनर्रचित प्रश्न है। गीता प्रेस पर अगला काम यह पूछने से आगे बढ़ सकता है कि संस्था ने किस संस्कृति का संरक्षण किया, और यह पूछ सकता है कि उसने 'संस्कृति' नामक श्रेणी का निर्माण कब, किसके विरुद्ध और किस लाभ के लिए किया। यह दूसरा प्रश्न कठिन है क्योंकि इसके लिए पत्रिका के संचयन का शब्द-स्तरीय पाठ चाहिए, पर यह अधिक उपयोगी है, क्योंकि यह संस्था के आत्म-वर्णन को विश्लेषण की श्रेणी बनने से रोकता है।

अन्त में एक व्यापक टिप्पणी, जिसे मैं परिकल्पना के रूप में ही रखूँगा। यदि 'हिन्दू संस्कृति' की रक्षा का सूत्रीकरण एक विशिष्ट विधिक संघर्ष में परिपक्व हुआ, तो यह भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के इतिहास के लिए एक सामान्य संकेत हो सकता है। ऐसी श्रेणियाँ प्रायः तब ठोस होती हैं जब उन्हें किसी ठोस प्रतिपक्षी की आवश्यकता होती है, और आधुनिक भारत में वह प्रतिपक्षी अक्सर राज्य का कानून रहा है। इस परिकल्पना का परीक्षण गीता प्रेस के अध्ययन से नहीं होगा। उसके लिए कई संस्थाओं और कई विधायी क्षणों को एक साथ देखना होगा, और वह एक अलग परियोजना है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणियाँ / REFERENCES AND NOTES

सन्दर्भ-सम्बन्धी एक सामान्य टिप्पणी। नीचे टिप्पणी 1 से 8 तक तथा 17, 20, 22 और 24 में *कल्याण* के जिन अंकों का उल्लेख है, उनकी तिथियाँ और शीर्षक एक सत्यापित द्वितीयक स्रोत से लिए गए हैं, मूल पृष्ठों से नहीं। यह स्रोत *The Caravan* में प्रकाशित एक विस्तृत विवरण है जो अक्षय मुकुल की 2015 की पुस्तक की सामग्री पर आधारित प्रतीत होता है; लेखक-नाम इस शोध-सत्र में पृष्ठ से स्वतन्त्र रूप से पुष्ट नहीं किया जा सका, और इसलिए इसे उसी सीमा के साथ उद्धृत किया गया है। इन सन्दर्भों को पृष्ठ-सत्यापित नहीं माना जाना चाहिए। इस आलेख में *कल्याण* का कोई वाक्य मूल शब्दावली के उद्धरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है।

1. 'हिन्दू संस्कृति के विनाश की योजना', *कल्याण*, जून 1948, लेखक-नाम अनुपलब्ध। तिथि और शीर्षक का स्रोत: 'How Gita Press shaped the orthodox challenge to the Hindu Code', *The Caravan*, https://caravanmagazine.in/religion/print-tradition-gita-press-challenge-hindu-code (पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026)।
2. स्वामी करपात्री के *सन्मार्ग* से पुनर्प्रकाशित सार्वजनिक सूचना, *कल्याण*, जुलाई 1948। स्रोत वही, टिप्पणी 1।
3. भगवान दास हलना की अपील तथा हनुमान प्रसाद पोद्दार का सम्पादकीय, *कल्याण*, अगस्त 1948। स्रोत वही।
4. 'हिन्दू कोड बिल: संस्कृति और धर्म के लिए संकट', *कल्याण*, मार्च 1949, चार पृष्ठ। स्रोत वही।
5. अलगू राय शास्त्री की अपील, *कल्याण*, जुलाई 1949। स्रोत वही।
6. स्वप्न-वृत्तान्त, *कल्याण*, अगस्त 1949। स्रोत वही।
7. धर्मनिरपेक्षता पर टिप्पणी, *कल्याण*, मई 1950। स्रोत वही।
8. हनुमान प्रसाद पोद्दार, सम्पादकीय, *कल्याण*, सितम्बर 1951। स्रोत वही।

9. इण्टरनेट आर्काइव, उन्नत खोज, प्रश्न 'kalyan gita press', कुल 824 परिणाम, https://archive.org/advancedsearch.php (पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026)।

10. आइटम पहचानकर्ता क्रमशः: kalyan-bhakta-ankha-vol.-1 (1928); sjii_kalyan-gitanka-vol-4-no-1-1929 (1929); kWXH_kalyan-sadhan-ank-vol.-15-issue-no.-1-august-1940 (1940); kalyan-go-ank-20th-year-special-issue-1945 (1945); nari_ank_1948 तथा cUvO_kalyan-nari-anka-gita-press-gorakhpur (1948); Npde_kalyan-hindu-samskriti-ank-jangamwadi-math-collection; HindiBookBhaktCharitankKalyan1952 (1952); kalyan-ank-1953-balak-ank_202409 (1953); kalyan-ank-1958-bhakti-ank (1958); kalyan-yog-tattva-anka। सभी इण्टरनेट आर्काइव पर, पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026।

11. *Kalyan Nari Ank 1948*, इण्टरनेट आर्काइव आइटम nari_ank_1948, 814 पृष्ठ, हिन्दी, विवरण में इसे हिन्दू कोड बिल की प्रतिक्रिया में निकला अंक बताया गया है। https://archive.org/details/nari_ank_1948 (पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026)। एक अन्य विवरण इस अंक को 882 पृष्ठ का बताता है; यह अन्तर सम्भवतः भिन्न संस्करणों या स्कैन में सम्मिलित विज्ञापन-पृष्ठों के कारण है और इसका निपटारा नहीं किया जा सका।

12. ऊपर 'सन्दर्भ-सम्बन्धी एक सामान्य टिप्पणी' देखें।

13. गीता प्रेस का अपना प्रकाशित विवरण *कल्याण* के आरम्भ का वर्ष 1927 बताता है, https://gitapress.org/kalyan (पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026); अन्य विवरण 1926 देते हैं, जिनमें टिप्पणी 1 में उद्धृत स्रोत भी है, जो 1926 के अन्त तक तीन हज़ार प्रतियों का आँकड़ा देता है।

14. Akshaya Mukul, *Gita Press and the Making of Hindu India*, HarperCollins India, 2015।

15. मुकुल की पुस्तक इस शोध-सत्र में पढ़ी नहीं जा सकी। चौथे खण्ड का आकलन प्रकाशित समीक्षाओं तथा टिप्पणी 8 में उद्धृत विवरण पर आधारित है और उसे तदनुसार सीमित माना जाना चाहिए।

16. Vasudha Dalmia, *The Nationalization of Hindu Traditions: Bhāratendu Hariśchandra and Nineteenth-Century Banaras*, Oxford University Press, दिल्ली, 1996।

17. गीता प्रेस की स्थापना 29 अप्रैल 1923, संस्थापक जयदयाल गोयन्दका, हनुमान प्रसाद पोद्दार तथा घनश्याम दास जालान। स्रोत: विकिपीडिया प्रविष्टि 'Gita Press', https://en.wikipedia.org/wiki/Gita_Press (पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026)। यह तृतीयक स्रोत है और इस पर कोई विवादास्पद दावा नहीं टिकाया गया है।

18. पोद्दार का 1971 तक सम्पादन। स्रोत टिप्पणी 1 में उद्धृत विवरण।

19. प्रसार-संख्या: 1926 के अन्त तक तीन हज़ार मासिक, 1931 के अन्त तक सोलह हज़ार, 1934 के अन्त तक साढ़े सत्ताईस हज़ार। स्रोत टिप्पणी 1 में उद्धृत विवरण। ये संस्था-आधारित आँकड़े हैं और स्वतन्त्र रूप से सत्यापित नहीं हैं।

20. Francesca Orsini, *The Hindi Public Sphere 1920–1940: Language and Literature in the Age of Nationalism*, Oxford University Press, नई दिल्ली तथा न्यूयॉर्क, 2002।

21. 1929 के शारदा अधिनियम पर *कल्याण* की सतर्क दूरी तथा पोद्दार की पत्रिका को राजनीतिक बनाने के प्रति अनिच्छा। स्रोत टिप्पणी 1 में उद्धृत विवरण।

22. हिन्दू कोड बिल की विधायी कालरेखा: राव समिति की प्रारम्भिक रिपोर्ट 1941, संशोधित रिपोर्ट 1947, विधि मन्त्रालय द्वारा संशोधित मसौदा 1948, संविधान सभा में पचास घण्टे से अधिक बहस और एक वर्ष से अधिक का स्थगन, तत्पश्चात् कार्यसूची से हटाया जाना और आम्बेडकर का त्यागपत्र; 1955 का हिन्दू विवाह अधिनियम तथा 1956 के तीन अधिनियम। स्रोत: विकिपीडिया प्रविष्टि 'Hindu code bills', https://en.wikipedia.org/wiki/Hindu_code_bills (पहुँच तिथि 13 अगस्त 2026)। यह तृतीयक स्रोत है; इस कालरेखा के प्रत्येक बिन्दु को प्रकाशित विधि-इतिहास से पुनः सत्यापित किया जाना चाहिए, यद्यपि चारों अधिनियमों के वर्ष सर्वसम्मत हैं।

23. *कल्याण* हिन्दू संस्कृति अंक, 1950। आइटम पहचानकर्ता Npde_kalyan-hindu-samskriti-ank-jangamwadi-math-collection, इण्टरनेट आर्काइव। इस अंक का 1950 का वर्ष टिप्पणी 1 में उद्धृत विवरण से लिया गया है; आइटम-पृष्ठ पर वर्ष स्वतन्त्र रूप से पुष्ट नहीं किया जा सका।

24. Dalmia, *The Nationalization of Hindu Traditions*, टिप्पणी 16 देखें।

25. पुत्रियों के उत्तराधिकार को मुस्लिम विधि से उधार बताने वाला तर्क। स्रोत टिप्पणी 1 में उद्धृत विवरण।

26. विशेषांकों की तिथियाँ और आइटम पहचानकर्ता टिप्पणी 10 में दिए गए हैं। यह क्रम इण्टरनेट आर्काइव पर उपलब्ध, तिथि-निर्धारण योग्य विशेषांकों तक सीमित है और गीता प्रेस के सम्पूर्ण विशेषांक-संचयन का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

27. गीता प्रेस के मारवाड़ी व्यापारिक आधार पर विस्तृत सामग्री Mukul, *Gita Press and the Making of Hindu India*, टिप्पणी 14, में होने की सम्भावना है, पर यह पुस्तक इस शोध-सत्र में पढ़ी नहीं जा सकी; टिप्पणी 15 देखें। संस्थापकों के नाम के लिए टिप्पणी 17 देखें।

28. Ulrike Stark, *An Empire of Books: The Naval Kishore Press and the Diffusion of the Printed Word in Colonial India*, Permanent Black, रानीखेत, 2007।

29. टिप्पणी 11 देखें।

30. Charu Gupta, *Sexuality, Obscenity, Community: Women, Muslims, and the Hindu Public in Colonial India*, Permanent Black, दिल्ली, 2001।

31. Charu Gupta, *The Gender of Caste: Representing Dalits in Print*, University of Washington Press, सिएटल तथा Permanent Black, रानीखेत, 2016।

32. मनुस्मृति 9.3 तथा 5.148। यह श्लोक-सन्दर्भ प्रकाशित अनुवादों और द्वितीयक चर्चाओं में सुस्थापित है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रस्ताव की टिप्पणी 39 में यही कथन जयदयाल गोयन्दका के व्यक्तिगत कथन के रूप में उद्धृत है, बिना किसी अंक या पृष्ठ के; इस आलेख में उस आरोपण को स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि उसका स्रोत सत्यापित नहीं है।

33. गीता प्रेस के अपने आँकड़ों के अनुसार 2019 तक कुल इकतालीस करोड़ सत्तर लाख से अधिक पुस्तकें चौदह भाषाओं में; गीता की लगभग चौदह करोड़ दस लाख तथा रामचरितमानस की लगभग दस करोड़ अस्सी लाख प्रतियाँ। स्रोत: विकिपीडिया प्रविष्टि 'Gita Press', टिप्पणी 17 देखें। ये संस्था-प्रदत्त आँकड़े हैं।

34. Elizabeth L. Eisenstein, *The Printing Press as an Agent of Change: Communications and Cultural Transformations in Early-Modern Europe*, Cambridge University Press, कैम्ब्रिज, 1979।

35. ओर्सिनी के लिए टिप्पणी 20 देखें; स्टार्क के लिए टिप्पणी 28 देखें।

ग्रन्थ-सूची / BIBLIOGRAPHY

प्राथमिक स्रोत

कल्याण, गीता प्रेस, गोरखपुर। इण्टरनेट आर्काइव पर उपलब्ध डिजिटल अंक, विशेषतः:

- *कल्याण* भक्त अंक, 1928 (आइटम kalyan-bhakta-ankha-vol.-1)
- *कल्याण* गीतांक, 1929 (आइटम sjii_kalyan-gitanka-vol-4-no-1-1929)
- *कल्याण* साधन अंक, अगस्त 1940 (आइटम kWXH_kalyan-sadhan-ank-vol.-15-issue-no.-1-august-1940)
- *कल्याण* गो अंक, विंशति-वार्षिक विशेषांक, 1945 (आइटम kalyan-go-ank-20th-year-special-issue-1945)
- *कल्याण* नारी अंक, 1948, 814 पृष्ठ (आइटम nari_ank_1948; अन्य प्रति cUvO_kalyan-nari-anka-gita-press-gorakhpur)
- *कल्याण* हिन्दू संस्कृति अंक (आइटम Npde_kalyan-hindu-samskriti-ank-jangamwadi-math-collection)
- *कल्याण* भक्तचरितांक, 1952 (आइटम HindiBookBhaktCharitankKalyan1952)
- *कल्याण* बालक अंक, 1953 (आइटम kalyan-ank-1953-balak-ank_202409)
- *कल्याण* भक्ति अंक, 1958 (आइटम kalyan-ank-1958-bhakti-ank)
- *कल्याण*, मुमुक्षु भवन वाराणसी संग्रह से अनेक खण्ड (आइटम SSKf_kalyan-many-volumes-gita-press)
- *कल्याण-कल्पतरु*, गीता प्रेस, गोरखपुर (आइटम kalyana-kalpataru-gita-press)

गीता प्रेस, *कल्याण* पत्रिका सम्बन्धी संस्थागत विवरण, https://gitapress.org/kalyan

द्वितीयक साहित्य

Dalmia, Vasudha. *The Nationalization of Hindu Traditions: Bhāratendu Hariśchandra and Nineteenth-Century Banaras*. दिल्ली: Oxford University Press, 1996.

Eisenstein, Elizabeth L. *The Printing Press as an Agent of Change: Communications and Cultural Transformations in Early-Modern Europe*. कैम्ब्रिज: Cambridge University Press, 1979.

Gupta, Charu. *Sexuality, Obscenity, Community: Women, Muslims, and the Hindu Public in Colonial India*. दिल्ली: Permanent Black, 2001.

Gupta, Charu. *The Gender of Caste: Representing Dalits in Print*. सिएटल: University of Washington Press; रानीखेत: Permanent Black, 2016.

Mukul, Akshaya. *Gita Press and the Making of Hindu India*. नोएडा: HarperCollins India, 2015.

Orsini, Francesca. *The Hindi Public Sphere 1920–1940: Language and Literature in the Age of Nationalism*. नई दिल्ली और न्यूयॉर्क: Oxford University Press, 2002.

Stark, Ulrike. *An Empire of Books: The Naval Kishore Press and the Diffusion of the Printed Word in Colonial India*. रानीखेत: Permanent Black, 2007.

'How Gita Press shaped the orthodox challenge to the Hindu Code'. *The Caravan*. https://caravanmagazine.in/religion/print-tradition-gita-press-challenge-hindu-code

तृतीयक स्रोत, सावधानी के साथ प्रयुक्त

'Gita Press', विकिपीडिया, https://en.wikipedia.org/wiki/Gita_Press

'Hindu code bills', विकिपीडिया, https://en.wikipedia.org/wiki/Hindu_code_bills

परिशिष्ट / APPENDIX: आलेख के दावों की साक्ष्य-स्थिति

दावा	साक्ष्य की स्थिति	विश्वास-स्तर
1948-51 में गीता प्रेस ने हिन्दू कोड बिल के विरुद्ध संगठित अभियान चलाया	तिथिवार सामग्री, सत्यापित द्वितीयक स्रोत से	उच्च
नारी अंक 1948 हिन्दू कोड बिल की प्रतिक्रिया में निकला	आर्काइव आइटम-विवरण तथा द्वितीयक स्रोत	उच्च
1929 के शारदा अधिनियम पर कोई तुलनीय अभियान नहीं चला	द्वितीयक स्रोत	मध्यम-उच्च
'संस्कृति' 1948 के आसपास संस्था के आत्म-वर्णन में केन्द्रीय बनी	अप्रत्यक्ष, शीर्षक और विशेषांक-नाम पर आधारित	मध्यम, परिकल्पना
1948 से पहले यह भाषा केन्द्रीय नहीं थी	अनुपस्थिति पर आधारित, व्यवस्थित पाठ नहीं	निम्न-मध्यम, परीक्षण अपेक्षित
गीता प्रेस ने क्षेत्रीय प्रथाओं का मानकीकरण किया	तीन में से एक भाग का साक्ष्य	निम्न, परिकल्पना
प्रकाशनों ने वास्तविक आचरण बदला	कोई स्वतन्त्र साक्ष्य नहीं	दावा नहीं किया गया
बौद्ध, जैन, सिख, आदिवासी, दलित परम्पराओं का बहिष्कार चयन था	तुलनात्मक अध्ययन अनुपस्थित	दावा नहीं किया गया
गोयन्दका का कथित स्त्री-सम्बन्धी उद्धरण	स्रोत असत्यापित, मनुस्मृति 9.3 / 5.148 से मेल	अस्वीकृत

Copyright & License:

© Authors retain the copyright of this article. This work is published under the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY 4.0), permitting unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.